



ISSN: 2231-5063

IMPACT FACTOR : 4.6052 (UIF)

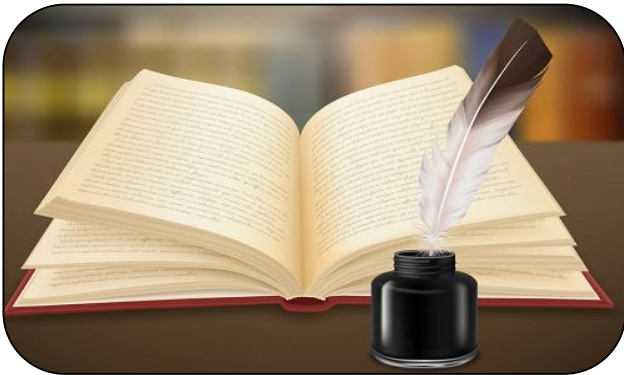
VOLUME - 6 | ISSUE - 9 | MARCH - 2017

## साहित्यिक रचना का फिल्मी क्लाइमेक्स

डॉ. गोरख थोरात

असोसिएट प्रोफेसर, स.प. महाविद्यालय, पुणे.

हम जब कोई साहित्यिक रचना तल्लीन होकर पढ़ते हैं, वह रचना हमारे मन के मंच पर अभिनित होती रहती है। इसी कारण हमें उस रचना में मज़ा आने लगता है, हम उसमें खो जाते हैं, उससे आनंद उठाते हैं। संभवतः इसी आनंद को काव्यशास्त्र में रस कहा गया है। साथ ही यह बात भी सही है कि साहित्य में दखल देना, साहित्य की अभिरुचि पालना या पढ़ना सभी के लिए संभव नहीं होता। समाज के बहुत कम लोग साहित्य में रुचि रख पाते हैं। बाकी लोग तो अपनी रोजमर्रा की जिंदगी की जद्दोजहद में ऐसे खो जाते हैं कि उनके पास ऐसे शौक पालने के लिए समय ही नहीं होता। कुछ लोगों के पास तो अक्षर-ज्ञान ही नहीं होता। कुछ लोगों की साहित्यिक समझ सीमित होती है। और तो और,



कुछ लोग तो ऐसे भी होते हैं, जिन्हें पुस्तक आँखों के सामने धरते ही नींद घेर लेती है। परंतु क्या वे साहित्यिक जीवन मूल्यों से कटकर रह जाएँ? नहीं, इन जीवन-मूल्यों से रूबरू होने का उन्हें भी बराबर का हक होता है। ऐसे सामान्य जनों के लिए कोई कोई निर्देशक-निर्माता साहित्यिक विषयों पर फिल्में बनाते हैं और सभी लोग उनका आनंद उठाते हैं।

अक्सर यह देखा गया है कि जिन लोगों ने वह रचना पहले से ही पढ़ी है, उन्हें उस रचना का फिल्मी रूप उतना पसंद नहीं आता, जितनी वह रचना पसंद आती है। ऐसा क्यों होता होगा? संभवतः इसका संकेत हम ऊपर चे चुके हैं कि जब हम उस रचना को पढ़ते हैं, तब हम अपने मानस मंच पर उसे अपनी मन की आँखों से उसका आदर्श रूप अभिनित होते हुए देखते हैं। परंतु जब वही रचना एक फिल्म या नाटक में परिणत हो जाती है, तब उसका वह रूप उस आदर्श रूप से मेल नहीं खाता, जो हमने मानस मंच पर अपनी मन की आँखों से देखा था। क्योंकि कल्पना की उड़ान रचना और उसे यथार्थ में परिणत करती फिल्म - दोनों के बीच कोई खाई रह जाती है।

दुनिया भर में साहित्यिक रचनाओं पर हजारों फिल्में बनी हैं। परंतु दुर्भाग्य से बहुत कम फिल्में ऐसी रही हैं, जिन्हें साहित्यिक रचना जितनी ही सफलता मिली हो। शायद इसका एक कारण यह भी हो कि साहित्यिक रचनाओं को पढ़नेवाला व्यक्ति एक प्रबुद्ध समाज से आता हो और वह रचना में अंकित भावनाओं, मूल्यों के साथ गहराई से एकाकार हो जाता हो।

इसके विपरीत फिल्म का दर्शक किसी भी समाज से आ सकता है। जरूरी नहीं कि उसके पास साहित्य या मूल्यों की समझ हो। वह तो कोरे मनोरंजन के रूप में उस फिल्मांकित रचना की ओर देखता है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि जब किसी रचना पर कोई फिल्म बनती है,

तब उसके फिल्मांकन के समय उसमें कई ऐसे व्यावहारिक बदलाव करने पड़ते हैं, जिनके बिना वह फिल्म बन ही नहीं सकती। क्योंकि रचनाकार तो कल्पना की उड़ान से कोई दृश्य साकार कर सकता है। कई बार वह यथार्थ भी होता है, परंतु फिल्म या नाटक के रूप में उस दृश्य को साकार करना अत्यंत कठिन होता है। उदाहरणार्थ, गुलज़ार द्वारा निर्देशित 'तहरीर' टीवी कार्यक्रम के अंतर्गत प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' पर लघुफिल्म दर्शायी गई। प्रेमचंद ने कहानी के अंत में हल्कू का खेत जंगली सूअरों द्वारा चरे जाना, जबरा द्वारा उन्हें खदेड़ने की कोशिश करना और सर्दी के मारे हल्कू का निष्क्रिय होकर सोते रहना दर्शाया है। परंतु कहानी के फिल्मी रूप में जंगली सूअरों का दिखाना बहुत मुश्किल था। इसलिए गुलज़ार ने जंगली सूअरों द्वारा खेत रौंदे जाने के दृश्य में परिवर्तन किया। इसके बजाय हल्कू ने सर्दी से बचने के लिए जो अलाव जलाया था, उसी से आग लगने के कारण फसल जलकर बरबाद हो गई, ऐसा दर्शाया। यहाँ निर्देशक की व्यावहारिक विवशता समझ में आती है, तथापि सूअरों द्वारा खेत का रौंदा जाना और सूअरों से खेत को बचाने के लिए जबरा की जद्दोजहद इसमें नहीं आ पाती। परिणामतः फिल्म वह प्रभाव नहीं डाल पाती जो प्रेमचंद की कहानी डालती है।

ऐसा ही एक और उदाहरण हाल ही में मराठी में बनी फिल्म 'बालगंधर्व' में देखने को मिलता है। मराठी रंगमंच के लीजेंड बालगंधर्व के बारे में यह बात विख्यात है कि वे नाटक की प्रस्तुति में रंगमंच सज्जा को यथार्थ के करीब ले जाने के पक्षधर थे। संभवतः इसी कारण वे देश की कंगाली के दौर में भी नाटक में असली सोने के गहने, बड़े-बड़े राजघरानों से प्राप्त कपड़े, ऊँची साड़ियाँ, हज़ारों रुपयों इत्र और तीस-चालीस हजार के गलीचे तक का इस्तेमाल अपने मंचन में करते थे। अभिराम भडकमकर द्वारा लिखित मराठी उपन्यास 'बालगंधर्व' में यह दृश्य आता है कि 'शकुंतला' नाटक खेलते समय बालगंधर्व रंगमंच सज्जा को यथार्थ बनाने के लिए मंच पर साक्षात् असली हिरन का प्रयोग करते हैं। अर्थात् वहाँ जंगली जानवर से अभिनय करवाने का बालगंधर्व का यह प्रयोग असफल हो जाता है। परंतु इसी दृश्य को जब 'बालगंधर्व' फिल्म में फिल्माया गया, तब बेचारे फिल्मकार बालगंधर्व तो थे नहीं, जो हिरन को पकड़कर ले आते और न ही यह वो जमाना था, जहाँ सरकार से इन्हें इसकी अनुमति मिलती। परिणामतः फिल्म में हिरन शावक के स्थान पर बकरी के मेमने का प्रयोग किया गया। यह प्रयोग न तो फिल्म में बालगंधर्व की वह तड़प ला सका, न गंभीरता नहीं ला सका। मगर हाँ, यह प्रयोग उस दृश्य को हँसी का पात्र अवश्य बना गया।

मराठी फिल्म 'जोगवा' का भी यही हाल है। यह फिल्म मुख्यतः राजन गवस के 'भंडारभोग' उपन्यास पर आधारित है। पूरा उपन्यास तायाप्पा नामक जोगते पर केंद्रित है। इस उपन्यास में तायाप्पा के जोगता बनने की कहानी चित्रित है, परंतु फिल्म में तायाप्पा की बजाय सुली जोगतिन कैसे बनी, यह कहानी ज्यादा मुखर रूप में सामने आती है। मैंने कुछ मराठी उपन्यासों का हिंदी अनुवाद किया है। उनमें से 'बालगंधर्व', 'जोगवा' जैसे उपन्यास भी थे, जिन पर मराठी में फिल्में भी बन चुकी थी। अनुवाद प्रक्रिया के दौरान मैंने ये फिल्में देखी थीं। तब यह बात समझ आई कि साहित्यिक रचना पर फिल्म या नाटक बनाते समय उसके क्लाइमेक्स को लेकर भी निर्देशक-निर्माता के मन में हमेशा द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। अमूमन भारतीय फिल्मों या नाटकों का झुकाव सुखांतता या हैप्पी एंडिंग की तरफ़ होता है। परंतु साहित्यिक रचनाएँ अधिकांशतः

यथार्थ को लेकर चलती हैं और यह साहित्यिक रचनाओं का यथार्थ आम दर्शकों की रुचि के साथ मेल नहीं खाता। इसलिए कई बार फिल्म या नाटक के निर्देशक को रचना का क्लाइमेक्स बदलना पड़ता है। यदि वह नहीं बदलता तो वह नाटक या फिल्म पिट सकती है। इसके कई उदाहरण बताए जा सकते हैं। 'तीसरी कसम' का ही उदाहरण लीजिए। इस कहानी का क्लाइमेक्स सुखांत नहीं है। अर्थात् कहानी के अंत में हीरामन और हीराबाई का मेल नहीं होता। क्योंकि हीराबाई नौटंकी में काम करनेवाली नचनिया है, उसका अपना एक दायरा है, इसलिए वह हीरामन को छोड़कर चली जाती है। कहानी में यह क्लाइमेक्स पाठक को बिल्कुल अंतर्मुख बना देता है। मगर ऊपर हमने देखा है कि कहानी के पाठक में और फिल्म के दर्शक में अंतर होता है। इसी अंतर को देखते हुए निर्देशक बासु भट्टाचार्य और निर्माता शैलेंद्र चाहते थे कि फिल्म में यह क्लाइमेक्स बदल दें और लोकरुचि के अनुकूल हीरा और हीरामन का मिलन दिखा दें। परंतु पटकथाकार फणीश्वरनाथ रेणु ठहरे साहित्यकार। उन्हें यह मंजूर कैसे होता? परिणामतः इतने जबरदस्त गीतों, संवादों और कथावस्तु के होने के बावजूद यह फिल्म बुरी तरह से पिट गई। प्रेमचंद के उपन्यासों पर बनी फिल्मों की भी संभवतः यही स्थिति थी। मगर कुछ लेखकों ने इससे सबक लेते हुए फिल्म के लिए दुबारा रचनाएँ लिखीं। उदाहरणार्थ, जार्ज बर्नार्ड शा के 'पिगमैलियन' नाटक पर बनी फिल्म पिट गई। क्योंकि इसमें भी नायक-नायिका का मिलन नहीं हो पाता। आखिकार जार्ज बर्नार्ड शा ने उसकी कथावस्तु में तनिक बदलाव कर और क्लाइमेक्स पूरी तरह से बदलकर दूसरी फिल्म बनायी 'माय फेयर लेडी' और यह फिल्म कामयाब रही। मराठी के वरिष्ठ उपन्यासकार आण्णा भाऊ साठे तो फिल्मी तकनीक को सामने रखकर ही उपन्यास लिखते थे। इसलिए उनके उपन्यासों पर बनी फिल्में मराठी में खूब चलीं।

ऐसा ही एक उदाहरण मराठी उपन्यास 'भंडार भोग' पर बनी फिल्म जोगवा में मिलता है। उपन्यास में लेखक राजन गवस ने यथार्थता का सहारा लेते हुए उपन्यास को क्लाइमेक्स तक पहुँचाया है। इसमें मुख्य चरित्र तायाप्पा, जो कि एक जोगता है (जोगता यानी भगवान के नाम पर छोड़ दिया गया पुरुष, जो जिंदगी भर अविवाहित और बेघर रहकर भीख माँगता हुआ एक जनखे जैसे जिंदगी बिताता है।)। एक सुधारवादी मास्टर की बातों में आकर उसे यकीन हो जाता है कि ये समाज उसके जैसे जोगते लोगों को अपना लेगा। इसीलिए जब उसका जोगता साथी यमनिया शराब के ठेके पर मर जाता है और कथित समाज का कोई सभ्य आदमी उसकी लाश को हाथ लगाने के लिए आगे नहीं आता, तब तायाप्पा को लगता है मास्टर और उसके साथी अवश्य अपनी मानवीयता का परिचय देंगे। इसलिए वह मास्टर को बुलाने जाता है। मगर मास्टर तो दूसरे गाँव चला गया है इसलिए वह मास्टर के साथी वसंत पाटील से चिरौरी करता है कि वह साथ चलकर यमनिया के शव अंतिम संस्कार करने में सहायता करे। मगर यहाँ पाटील अपनी असलियत पर उतर आता है और समाज में अपने मान-सम्मान की दुहाई देकर उसकी सहायता करने से मना कर देता है। इससे तायाप्पा का मोहभंग होता है और वह यमनिया की लाश को अकेला ढोता है और मोहभंग के कारण यमनिया की तरह शराबखोरी के रास्ते पर चल पड़ता है। परंतु 'जोगवा' फिल्म का क्लाइमेक्स इस तरह नहीं है। उसमें आदर्शवाद को सामने रखता है। फिल्म में यह दर्शाया गया है कि जोगता तायाप्पा और जोगतिन सुली शादी करने का फैसला करते हैं। समाज उनकी जान का दुश्मन बनता है, परंतु तायाप्पा और रत्ना समाज की परवाह किए बिना एक हो जाते हैं। यहाँ उपन्यास का क्लाइमेक्स और फिल्म के क्लाइमेक्स में जमीन-आसमान का अंतर है। फिल्मकार को बाज़ार, दर्शकों की रुचि और सामाजिक संदेश को ध्यान में रखकर उसमें परिवर्तन करना पड़ता है।

कुछ उदाहरण इसके विपरीत भी मिल सकते हैं। मराठी के नाट्याचार्य राम गणेश गडकरी ने शराब की लत के दुष्परिणामों पर आधारित नाटक लिखा था, 'एकच प्याला' (एक ही प्याला)। परंतु नाटक रंगमंच पर आने से पहले ही गडकरी जी का निधन हो गया। बालगंधर्व की नाटक कंपनी यह नाटक खेल रही थी। नाटक का अभ्यास वगैरह पूरा हुआ और नाटक रंगमंच के लिए लगभग तैयार हो गया था, और ऐसे में किसी ने इस नाटक के समापन के बारे में शंका उठाई कि क्या नाटक का ऐसा दुखांत समापन दर्शकों को रास आएगा? क्योंकि इस नाटक में अंत में नायक सुधाकर और नायिका सिंधु दोनों की मृत्यु हो जाती है। इसमें सिंधु का किरदार बालगंधर्व निभानेवाले थे। पूरी नाटक मंडली दो हिस्सों में बँट गई। एक दल में अंग्रेजी नाटकों विशेषज्ञ थे, जो कथार्सिस वगैरह की दुहाई दे-देकर समापन बदलने का आग्रह कर रहे थे। कुछ लोग लोकरुचि की बातें कर रहे थे। साथ ही बालगंधर्व की इमेज की भी। क्योंकि इससे पूर्व बालगंधर्व ने सुभद्राहरण, शकुंतला जैसे नाटकों में संपन्न घरानों की, ऊँचे वस्त्र पहननेवाली, तेज-तरार, अभिमानी स्त्रियों का अभिनय किया था और इस नाटक में उन्हें उतरन पहननी थी। इसलिए इस दल के लोगों को यह डर था कि दर्शक बालगंधर्व को इस रूप में पसंद करेंगे भी या नहीं। परंतु दूसरा दल जिसमें स्वयं बालगंधर्व थे, समापन बदलने के लिए राजी नहीं था। बालगंधर्व का कहना था कि यदि इसका समापन बदलना ही होता तो स्वयं नाटककार गडकरी ने बदल दिया होता। जब उन्होंने नहीं बदला, इसका मतलब यह है कि इस नाटक का समापन यही हो सकता है। दूसरी बात, यह नाटक शराबपान से गृहस्थी का सत्यानाश कैसे होता है, इस सुधारवादी विषय पर केन्द्रित है। इसलिए नाटक समापन इस तरह रखा गया है कि नाटक खत्म होने के बाद दर्शक इस तरह अंतर्मुख होकर प्रेक्षागृह से बाहर निकले, उनके मन पर शराब का विनाशकारी असर इस कदर अंकित हो कि उसे कुछ कहने का भी होश न रहे। और सभी लोगों के विरोध के बावजूद बालगंधर्व ने 'एकच प्याला' का समापन नहीं बदला और यह नाटक ऐसा अभूतपूर्व सफल रहा कि उसकी चर्चा और मंचन आज भी होता है।

सारांश, उपन्यास और फिल्म दोनों अलग-अलग माध्यमों के आविष्कार हैं। दोनों माध्यमों की अपन-अपनी विशेषताएँ हैं। उपन्यास का फिल्म में रूपांतरण यानी एक तरह से लिखित माध्यम का दृश्य-श्रव्य माध्यम में अनुवाद है। और सुना है, अनुवाद कभी भी शत प्रतिशत सही नहीं होता। उसमें उन्नीस बीस हो ही जाता है। यहाँ फिल्मकार के सामने और कोई विकल्प नहीं होता। उसे एक बहुत बड़े समुदाय तक पहुँचना होता है और इसके लिए वह सरलता का सहारा लेता है। साहित्यप्रेमियों को यह प्रयास अवश्य नागवार गुजरता होगा, परंतु साहित्य के प्रति दिलचस्पी रखने की अभिलाषा करनेवाले परंतु उससे दूर रहने को अभिशप्त लोगों के लिए उपन्यासों का फिल्मांकन 'बोटी नहीं, शोरबा ही सही' कहावत के अनुसार कुछ तो संतोष अवश्य प्रदान करता है।